



॥ श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीसरस्वत्यै नमः॥ श्रीगुरुभ्यो नमः॥ श्रीकुलदेवतायै नमः॥ श्रीसीतारामचंद्राभ्यां नमः॥ श्रीसद्गुरुसाईनाथाय नमः॥ राजाधिराज चक्रवर्ती। शांतिसिंहासनस्थ मूर्ति। नमू स्वानंदसाम्राज्यपति। अनन्यगतीं गुरुराज॥१॥ अभेदभक्ति सहजस्थिति। उभयभागीं चवत्या वारिती। स्वानुभूति सद्यःप्रतीति। जया वीजिती अत्यादरं॥२॥ छत्रधारी स्वात्मस्थिति। वेत्रधारी शांतिसंविति। षडरिमायामोहवृत्ति। जेथें न तगती क्षणभरी॥३॥ काय या सभेचा थाट। चार सहा अठरा भाट। चिन्मयचांदवा लखलखाट। पसरला घनदाट स्वानंद॥४॥ विरक्ति भक्ति शुद्ध ज्ञान। श्रवण मनन निदिध्यासन। निजानुसंधान साक्षात्करण। अष्टप्रधान सेवारत॥५॥ शान्ति-दान्ति दिव्यमणि। चमकती जयाच्या कंठभूषणीं। वेदान्तसागरसुधातरंगिणी। मधुर वाणी जयाची॥६॥ झळके जयाची सतेज धार। कराया त्या ज्ञानखड्गगाचा प्रहार। पाहोनि ज्याचा उद्यत कर। कांपे थरथर भववृक्ष॥७॥ जय निरंजना अव्यया। गुणातीता योगिराया। परोपकारार्थ धरिलीस काया। उद्धराया दीन जनां॥८॥ गताध्यायीं निरूपण। भक्तभावार्थ करोनि पूर्ण। पुरवोनि तयानें केलेला पण। पटविली खूप मनाची॥९॥ सद्गुरु सदा अवाप्तकाम। शिष्य काय पुरवी तत्काम। शिष्यांचाच सेवाकाम। पुरवूनि निष्काम तो करी॥१०॥ भावें अर्पितां फूल पान। अति प्रेमं करील सेवन। तेंच अर्पितां साभिमान। फिरवील मान जागींच॥११॥ सच्चित्सुखाचे जे सागर। तयां बाह्योपचारीं काय आदर। परि ते करितां भावार्थें सादर। सौख्य निर्भर सेविती॥१२॥ नेणतपणाचें पांघरूण। घेरुनि अज्ञान देती ज्ञान। न करितां मर्यादा-अतिक्रमण। गोड शिकवण ते देती॥१३॥ तयांची सेवा करितां भावें। सेवक ब्रह्मसायुज्य पावे। इतर सर्व साधनीं ठकावें। लीन व्हावें गुरुसेवे॥१४॥ त्या सेवेची लघु कुचराई। किंवा तेथ लव चतुराई। करितां साधक पडेल अपारीं। विश्वास पार्यीं पाहिजे॥१५॥ शिष्यें काय कीजे स्वयें। सद्गुरुसीच लावणें सोये। शिष्यास न ठावे निज अपाय। नकळत उपाय गुरु करी॥१६॥ गुरुपरीस आणिक वदान्य। त्रिभुवनीं पाहतां नाही अन्य। शरण्याचा परमशरण्य। शरण अनन्य होऊं त्या॥१७॥ उपमूं जातां चिंतामणीसीं। चिंतामणी दे चिंतितार्थासी। गुरु देईल अचित्य वस्तुसी। परमाश्चर्येसीं निजभक्ता॥१८॥ तुळूं जातां कल्पतरुसी। तों तो पुरवी कल्पितार्थासी। देईल निर्विकल्पस्थितीसी। अकल्पितेसी गुरुराय॥१९॥ कामधेनु कामिलें पुरवी। गुरुधेनुची तीहून थोरवी। अचित्यदानीं ऐसी ही पदवी। कोण मिरवी तिजवीण॥२०॥ आतां श्रोतयां हेचि विज्ञप्ति। सांगेन म्हणितलें गताध्यायांतीं। ब्रह्मार्थिया ब्रह्मज्ञानप्राप्ति। कथासंगति अवधारा॥२१॥ ब्रह्मज्ञानाचा आलिया भोक्ता। बाबा कैसी करिती तृप्तता। कैसे उपदेशिती निजभक्तां। त्या परमार्था परिसा जी॥२२॥ संत नित्याचे निष्काम। सकळ परिपूर्ण अवाप्तकाम। परि भक्त अत्यंत सकाम। अतृप्तकाम सर्वदा॥२३॥ कोणी मागे पुत्रसंतति। कोणी अखंड राज्यसंपत्ति। कोणी मागे भावभक्ति। भवनिर्मुक्ति एकादा॥२४॥ ऐसाचि एक भक्त भावार्थी। परि निमग्न धनसंचयार्थी। ऐकूनि बाबांची उदंड कीर्ति। दर्शनार्ति उदेली॥२५॥ घरीं उदंड संतति संपत्ति। दासदासी अपरिमिती। दर्शन घ्यावें आलें चितीं। उदार मूर्ति बाबांची॥२६॥ बाबा मोठे ब्रह्मज्ञानी। साधुसंतमुकुटमणि। मस्तक ठेवूं त्यांचे चरणीं। अगाध करणी जयांची॥२७॥ नाही आपुल्यास दुजी वाण। आपण मागूं ब्रह्मज्ञान। सहजीं जाहल्या हें साधन। मग मी धन्य होईन॥२८॥ मग तया तन्मित्र म्हणे। सोपें नाही ब्रह्म जाणणें। तें तुजसम लोभियाभेणें। प्रकट होणें दुर्घट॥२९॥ द्रव्यदारासुतांपरती। ठावी न जया सुखोत्पत्ति। तयासी ब्रह्म ही केवळ भ्रांती। कैचीं विश्रांती देईल॥३०॥ क्षीण होतां इंद्रियशक्ति। जगांत कोणी मान न देती। तें रिकामटेकडे उगाच बैसती। सूत कांतिती ब्रह्माचें॥३१॥ तैसी ही तुझी ब्रह्मजिज्ञासा। चिकट हार्तीचा न सुटतां पैसा। कोणी न हा तुझा धिंवसा। पुरवील ऐसा मिळेल॥३२॥ असो ऐसी आस्था मनीं। ब्रह्मार्थी निघाला शिरडीलागोनि। परतभाड्याचा टांगा करोनि। साईचरणीं पातला॥३३॥ घेतलें साईचें दर्शन। केलें तयां पार्यीं नमन। साई मग वदती मधुर वचन। श्रोतां श्रवण तें कीजे॥३४॥ हा साई कथाकल्पतरु। अवधानपयःपानें सधरू। जंव जंव वाढे श्रोतयां आदरू। प्रसवेल फलभारू तंव तंव॥३५॥ रसभावें सर्वांगीं भरेल। सुगंधपुष्पीं तो फुलेल। मधुरफलभारीं तो लवेल। इच्छा पुरेल भोक्त्यांची॥३६॥ म्हणे तो “बाबा ब्रह्म दाखवा। हेंच आलों धरुनि जीवा। जन म्हणती शिरडीकर बाबा। ब्रह्म दाविती अविलंबें॥३७॥ म्हणोनि इतका दूर आलों। मार्ग कटिंतां फार श्रमलों। तरी तें ब्रह्म जरी लाधलों। कृतकृत्य झालों म्हणेन”॥३८॥ बाबा वदती “न करीं चिंता। ब्रह्म दावीन रोकडें आतां। येथें न उधारीची वार्ता। तुजसम पुसताचि दुर्लभ॥३९॥ मागती बहुत धनसंपदा। निवारा म्हणती रोग आपदा। मागती लौकिक मान राज्यपदा। सौख्य सदा मागती॥४०॥ केवळ ऐहिक सुखालागूनि। जन शिरडीस येती धांवूनि। लागती मज फकिराचे भजनीं। ब्रह्म कोणीही न मागती॥४१॥ तैशियांचा मज सुकाळ। तुजसारिखांचाच दुकाळ। ब्रह्मजिज्ञासूंचा मी भुकाळ। पर्वकाळ हा मजला॥४२॥ जया ब्रह्मवस्तुभेणें। रविशशींचे नियत चालणें। नियमं उगवणें नियमं मावळणें। प्रकाश चांदणें नेमस्त॥४३॥ ग्रीष्म-वसंतादि-ऋतुकाळ। इंद्रादि देव लोकपाळ। नेमं करिती जो प्रजा-प्रतिपाळ। त्या सर्वां मूळ हें ब्रह्म॥४४॥ म्हणून शरीरविस्त्रंसनाआधीं। सुधी ब्रह्मपुरुषार्थ साधी। त्यावीण पुनरावर्तन निरवधी। लागेल अबाधित पाठीसी॥४५॥ तें हें ब्रह्म जाणल्यावीण। होईल जरी शरीरपतन। पिच्छा पुरवील संसारबंधन। पुनर्जनन चुकेना॥४६॥ ब्रह्मचि काय मी तुज सगळें। दावितां पहा ब्रह्मगुंडाळें। जें तुज नखशिखांत वेंटाळे। तें मी आगळें उकलितों”॥४७॥ काय ती सुधामधुर वाणी। केवलाद्वैतसुखाची खाणी। संशयदोलारूढ जे प्राणी। तदुद्धरणीं समर्थ॥४८॥ आपातरमणीय सुखप्रलोभनीं। गुंतले जे दिवसरजनी। तयांसही बाबांची वचनसरणी। विहिताचरणीं प्रस्थापी॥४९॥ चिंतामणि प्रसन्न होतां। लौकिकसौख्य चढेल हाता। लाधेल स्वर्गसंपत्तिमत्ता। महेंद्र होतां प्रसन्न॥५०॥ याहूनि गुरुची अलौकिकता। गुरुसमान नाही दाता। दुर्लभ ब्रह्म दावितील भक्ता। सुप्रसन्नता पावलिया॥५१॥ तया गोड कथेच्या श्रवणें। होईल संसारदुःखा विसरणें। ब्रह्मार्थियांसी कैसें शिकविणें। तेंही जाणणें बाबांही॥५२॥ असो मग त्यातें बैसविलें। क्षणैक अन्य व्यवसायीं त्या गुंतविलें। जणूं त्या प्रश्नाचें भानचि हरपलें। ऐसें दाविलें तयाला॥५३॥ मग बाबांनीं काय केलें। मुलास एका निकट बोलाविलें। जा म्हणती सत्वर वहिलें। दे नंदूला निरोप कीं॥५४॥ पांच रुपये उसनवारी। बाबांस आहे निकड भारी। हातउसने क्षणभरी। दे झडकरी म्हण त्याला॥५५॥ मुलगा गेला नंदूचे घरा। कुलूप होतें तयाचे द्वारा। येऊनि तात्काळ माघारा। समाचारा निवेदिलें॥५६॥ बाबा म्हणती “जा परतोनि। असेल घरीं बाळा वाणी। तोच निरोप त्यातें देऊनि। रुपये घेऊनि येई जा”॥५७॥ व्यर्थ गेली हीही फेरी। बाळाही तेव्हां नव्हता घरीं। मुलगा घडली जे जे परि। सादर करी बाबांसी॥५८॥ आणखी एका दोघां ठायीं। बाबा धाडिती तया लवलाही। थकला हेलपाटियापार्यीं। कपर्दिक कांहीं लाधेना॥५९॥ नंदू अथवा बाळा वाणी। एकही ते वेळीं घरीं न कोणी। बाबांस ही जाण पूर्णपणीं। अंतर्ज्ञानी महाराज॥६०॥ चालतें बोलतें ब्रह्म साई। पांच रुपयांस अडेल काई। परि त्या ब्रह्मार्थियापार्यीं। हे नवलाई मांडिली॥६१॥ पाहुणा येतां घरा। तयाचिया पाहुणचारा। केलें जें मिष्टान्न वा शिरा। भोगही इतरां लाधे तो॥६२॥ तैसा हा ब्रह्मभोक्ता। करुनियां पुढारा निमिता। महाराज उपदेशिती भक्तां। कल्याणार्था सकळांच्या॥६३॥ पन्नासाधिक दोनशतें। रुपये नोटांचें पुडकें होतें। त्या ब्रह्मार्थियाचे खिशांत तेथें। तें साईनाथें जाणिलें॥६४॥ हें काय त्या ब्रह्मार्थिया नकळे। नव्हते काय तयास डोळे। खिशांत असतां नोटांचें भेंडोळें। विकल्पघोळें नाडला॥६५॥ साईस पांच रुपड्या उधार। आणि त्याही एक घटकाभर। त्याही घावया नाही धीर।

ब्रह्मसाक्षात्कार मार्गं ये ॥६६॥ साईमहाराज सत्यवचनी। रकमही लहान हातउसनी। देऊनि पहावें येतांच मनीं। विकल्प येऊनि आदळे ॥६७॥ पांच रुपयांची कथा ती काय। परि ते द्यावया जीव न होय। एवढी जया लाववे न सोय। लोभ स्वयमेव तो जन्मे ॥६८॥ इतर कोणी भाळा भोळा। जयाला बाबांचा खरा जिह्वाळा। उसनवारीचा तो सोहळा। उघड्या डोळां बघता ना ॥६९॥ ब्रह्मार्थ जो इतुका तान्हेला। त्याला हा प्रश्न नसेल कां उकलला। ऐसं न यत्किंचित वाटे मजला। परि तो ग्रासिला धनमोहें ॥७०॥ स्वस्थ बैसावें तेंही नाहीं। सुटली परत जाण्याची घाई। तो म्हणे अहो बाबासाई। ब्रह्म ठायीं पाडा कीं ॥७१॥ बाबा म्हणती "बैसल्या ठायीं। ब्रह्म दावावें येच उपार्यीं। केले येथवर उपाय पाहीं। कळले नाहीच कां तुम्हां? ॥७२॥ ब्रह्मालागीं पंचप्राण। पंचपंचेंद्रियज्ञान। अहंकार बुद्धि मन। लागती समर्पण करावया ॥७३॥ ब्रह्मज्ञानाचा मार्ग बिकट। सुलभ न सर्वा सरसकट। उदयकाल होतां तें प्रकट। लाभे अवचट सभाग्या ॥७४॥ हिरण्यगर्भपदापर्यंत। सर्व उत्कर्षीं जो विरक्त। तोचि ब्रह्मविद्येसी अधिकृत। अनासक्त इतरत्र ॥७५॥ अंगीं विरक्ति न लवलेस। ऐशियासी ब्रह्मतत्त्वोपदेश। कोणीही जरी केला अशेष। काय त्या यश येईल ॥७६॥ अबाधित ब्रह्मबोधन। उत्तमाधिकारिया ग्रहण। परि मध्यमाधिकारी जन। परंपरे-आधीन सर्वदा ॥७७॥ एका विहंगममार्गसेवन। दुजिया परंपरासोपान। परि या अनधिकारियालागून। वावगा शीण ब्रह्माचा ॥७८॥ एका आत्मविवेकावांचून। नाहीं निरतिशय प्राप्तिसाधन। हें जरी सत्य वेदान्तवचन। तें काय आधीन सर्वांच्या ॥७९॥ अभ्यास आणि श्रम रोकडे। करूं लागतीं हाडांचीं काडें। तई तें गुरुकृपाउजियेडें। हातीं चढे हळू हळू ॥८०॥ मी एक ईश्वर मी नियंता। हिरण्यगर्भा जें चढे अहंता। स्वरूपीं पडे विस्मरणता। प्रादुर्भूतता विश्वाची ॥८१॥ 'ब्रह्माहमस्मीति' होतां ज्ञान। ज्ञाता होय स्वरूपीं लीन। तेंच विश्वाभासविसर्जन। श्रुति गर्जन करिते कीं ॥८२॥ होतां स्वप्नबोधोत्पत्ति। ब्रह्माकारांतःकरणवृत्ति। ब्रह्मार्गीत विश्वाची आहुती। होते विभूति सृष्टीची ॥८३॥ जीवांचीही हेच स्थिति। होते जेव्हां भ्रमनिवृत्ति। रज्जू किरण आणि शुक्ति। आभासा मुक्ती तात्काळ ॥८४॥ शुक्त्यज्ञान तेंच रजतभान। रजतज्ञान तेंचि शुक्तिज्ञान। भ्रमनिवृत्तिकालीं रौप्यावसान। शुक्तिकाविज्ञान निर्भळ ॥८५॥ अन्योन्य-मोहाचें हें लक्षण। ज्ञानदीपाचें करा उजळण। अज्ञानमला करा क्षालन। निर्दोषण तें प्रतिभासा ॥८६॥ जन्म-मृत्यूचा नसता बंध। असता किमर्थ मोक्षनिर्बंध। वेदान्ता आम्हां काय संबंध। मग हा प्रबंध कायसा ॥८७॥ आहें मी बद्ध व्हावें निर्मुक्त। ऐसा जो दृढनिश्चयासक्त। तोच येथील अधिकारी फक्त। न युक्त अत्यज्ञ वा तज्ज्ञ ॥८८॥ बद्धचि नाहीं कैची मुक्ति। हे तो आहे वस्तुस्थिति। बद्धमुक्ता गुणसंगतीं। आहे प्रतीति अवधियां ॥८९॥ द्वितीयाचा अभाव जेथें। बांधी सोडी कवण कवणातें। कोणीही न बद्ध वा मुक्त तेथें। द्वैत-अद्वैतें गेलिया ॥९०॥ दिन रजनी हे प्रकार। उत्पादी काय दिनकर। हा तो दृग्दोषव्यवहार। दिवाकर अलिप्त ॥९१॥ मी एक कर्ता मी एक भोक्ता। हा अभिमान धरुनि चित्ता। स्वर्गनरक सुखासुख अनुभवितां। वासनासक्तता वाढते ॥९२॥ आत्मा नित्य पुराण शाश्वत। जन्मनाशादि-विकार-वर्जित। अकाराक्षरप्रतीकवंत। अनाद्यनंत संतत जो ॥९३॥ जयाची शरीरमात्रात्मदृष्टी। स्वयें निराळा निराळी सृष्टी। तयास आत्मज्ञानाची कर्षीं। परामृष्टि लाधेना ॥९४॥ वाण्यादि-सर्वेंद्रियांचा लय। करा मनीं व्हा कृतनिश्चय। त्या मनाचा करा क्षय। घ्यावा ठाय बुद्धीचा ॥९५॥ प्रकाशस्वरूप जे ज्ञानबुद्धि। मनासी तेथें लावा समाधि। मनासह सर्वेंद्रियसमृद्धि। एका स्वाधीन बुद्धीच्या ॥९६॥ घटासी आद्यकारण माती। इंद्रियां बुद्धि तैशाच रीती। ते तयांची नित्य स्थिति। ऐसी हे व्याप्ति बुद्धीची ॥९७॥ बुद्धि निजव्यापकपणें। व्यापी मनादि सकल करणें। बुद्धीस महत्त्वीं निरविणें। महत् समर्पणें आत्मत्वीं ॥९८॥ ऐसाच करितां समाहार। होय आत्मस्वरूपनिर्धार। मग रजत-मृगजल-सर्पाकार। दृग्विकार केवळ ते ॥९९॥ तो हा अशेष-विशेषरहित। जन्मापक्षयविवर्जित। यद्दर्शनेवीण नाहीं स्वहित। साधु सतत बोलती ॥१००॥ कार्यमात्रा आहे कारण। आत्मा स्वयंभू निष्कारण। 'पुराऽपि नव' हा पुराण। बुद्धिहीन स्वभावे ॥१०१॥ आकाशवत् अविच्छिन्न। जन्मविनाश-विलक्षण। 'ॐ प्रणव' जयाचें आलंबन। निरालंबन निष्कल जो ॥१०२॥ परब्रह्म तें ज्ञातव्य। अपर ब्रह्म तें प्राप्तव्य। ॐ तत्प्रतीक ध्यातव्य। उपसितव्य सर्वदा ॥१०३॥ सर्व वेदांचें जें सार। प्रणवस्वरूप तोच ॐकार। तयाचा सार्थ जो निर्धार। तोच विचार महावाक्याचा ॥१०४॥ वेद स्वयें जें प्रतिपादिती। जें अतिप्रयत्नें जन संपादिती। यदर्थ ब्रह्मचर्य आचरिती। ॐ पद म्हणती तयासी ॥१०५॥ असो तया पदाचा आक्रम। करूं जातां जरी दुर्गम। तरी तें अभ्यासियां सुगम। होतां परम गुरुकृपा ॥१०६॥ इंद्रियांमाजील जी स्थूल परम। तेथुनि धरितां अनुक्रम। आदरितां सूक्ष्म तारतम्यक्रम। साधे अविश्रम साधका ॥१०७॥ तें हें ॐ शब्दवाच्य अक्षर। सकळ तपाचें जें सार। उच्चारमात्रें स्फुरे अर्थसार। साक्षात्कार आवर्तनें ॥१०८॥ अविपरिलुप्त चैतन्य। वृद्धिक्षयविकारशून्य। ऐसा आत्मा जाणील तो धन्य। भक्त अनन्य सद्गुरुचा ॥१०९॥ अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैव। त्रिविध तापीं तापले जे सदैव। ते कैचे भोगिती हें सुदैव। वैभव हें एक संतांचें ॥११०॥ अविद्येपोटीं उपजे संसृति। त्यापासोन व्हावया निवृत्ति। साधन जें ब्रह्मात्मैकत्ववृत्ति। तयाची प्राप्ति ये ठायीं ॥१११॥ विषयकल्पनाशून्य स्थिति। "अहं ब्रह्मास्मीति" वृत्ति। या महावाक्याचिया आवृत्ति। बुद्धिप्रवृत्ति होईल जें ॥११२॥ गुरुवचनशास्त्रप्रतीति। अंतर्बाह्य करणवृत्ति। मनासह उपरमा पावती। आत्मसंवित्ति लाभे तें ॥११३॥ तेंच सम्यग्दर्शनप्राप्ति। विषयार्थादि जड निवृत्ति। तुटे अविद्यादि हृदयग्रंथि। होय अव्यर्त्तीं प्रविष्ट ॥११४॥ कवडशांतील अतिसूक्ष्म कण। तयाहूनही सूक्ष्म प्रमाण। तया अणूहूनही अणीयान। आत्मानुमान-निर्धार ॥११५॥ मोठ्यांत मोठें ब्रह्मांड जाण। त्याहूनही आत्मा महिमान। परि हें सर्व सापेक्ष प्रमाण। आत्मा प्रमाणातीत तो ॥११६॥ सूक्ष्मत्वे 'अणोरणीयान'। महत्त्वे महत्परिमाणवान। एवं नामरूपादि केवळ उपाधी जाण। आत्मा परिपूर्ण निरुपाधिक ॥११७॥ आत्म्यास ना जन्म ना मरण। नाहीं तयासी मूलकारण। अज-नित्य-शाश्वत-पुराण। सहज निर्धारण दुर्गम ॥११८॥ 'ॐकार' प्रतीक जें ब्रह्म। तेंच त्याचें स्वरूप परम। आगमनिर्गमांसाही दुर्गम। तें काय सुगम सर्वत्रां ॥११९॥ जया निर्धारितां वेद थकले। तपस्वी वनवासी झाले। उपनिषदीं हात टेंकिले। कोणा न झालें निदान ॥१२०॥ पावावया आत्मस्वरूपाचिया ठावा। अभेददर्शी आचार्यचि व्हावा। तदितरांचा कोण केवा। रिघावा न तेथें तार्किका ॥१२१॥ केवळ तार्किका न तेथें थारा। भ्रमावर्तीं फिरेल गरगरां। आगम-आचार्यावीण इतरां। स्थिरावेना तत्त्वबुद्धी ॥१२२॥ स्वबुद्धिकल्पनेचे अनंत तारे। न चुकविती लखचौ-याशीं फेरे। आगम-आचार्येंदु एकचि पुरे। मग तम नुरे लवलेस ॥१२३॥ इतरां न साधे जें बहु सायासें। तेंच साधील तो अल्पायासें। जो दृढ धरी त्या सद्गुरुचे कासे। तया प्रकाशे सद्दिद्या ॥१२४॥ सकार्य अविद्या जेथ सरें। सच्चिदानंदस्वरूप स्थिरे। स्वस्वरूप-स्थिति अवतरे। मोक्ष दुसरें नाम त्या ॥१२५॥ हेंच जीवाचें अत्यंत अभीष्ट। यदर्थ करिती बहुत कष्ट। जें निरंतर ब्रह्मयोगनिष्ठ। अंतर्निष्ठ सर्वदा ॥१२६॥ स्वरूपीं होतां चंचळ। उठे विषयांची खळबळ। झालिया स्वरूपीं निश्चळ। येई विकळता विषयांतें ॥१२७॥ स्वरूपीं जो विमुख। विषय तया सदा सन्मुख। तोच होतां स्वरूपोन्मुख। विषय मुख फिरविती ॥१२८॥ मोक्षमात्राचीच इच्छा करी। अन्यार्थीं निरिच्छ अम्यंतरीं। इहपरत्रार्थ तृष्णालेश न धरी। तोच अधिकारी मोक्षाचा ॥१२९॥ यांतील जो एका लक्षणें उणा। मुमुक्षू नव्हे तो स्पष्ट जाणा। तो केवळ मुमुक्षूचा बहाणा। जैसा काणा देखणा ॥१३०॥ अहंकार गळाल्यावीण। न होतां लोभाचें निर्मूलन। न होतां मन निर्वासन। ब्रह्मज्ञान ठसेना ॥१३१॥ देहात्मबुद्धि हेच भ्रांति। बंधासी कारण आसक्ति। सोडा विषयकल्पना-स्फूर्ति। ब्रह्मप्राप्ति हातीं ये ॥१३२॥ निर्विशेष परब्रह्म। साक्षात्कार ये कठिण कर्म। सविशेष निरूपण हेंचि वर्म। हाचि धर्म धीमंदां ॥१३३॥ आत्मा गूढ सर्वाभूतीं। हें तत्त्व जाणती वेदांती। तरी यावी सर्वत्र अनुभूती। ऐसी प्रतीति कैसेनी ॥१३४॥ आधीं लागे चित्तशुद्धि। वरी सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धि। तेव्हांच प्रकटे हा त्रिशुद्धि। कृपासमृद्धि स्वयमेव ॥१३५॥ आत्मा नित्य अविकृत। आत्मविद तो शोकरहित। तोच धैर्यवंत धीमंत। भवनिर्मुक्त तो सदा ॥१३६॥ येथ न चले प्रवचनयुक्ति। किंवा ग्रंथार्थधारणाशक्ति। अथवा वेदश्रुति-व्युत्पत्ती। कांहीं उपपत्ति लागेना ॥१३७॥ आत्मा नित्य अविकृत। शरीर अनित्य अनवस्थित। हें जाणोनि साधे जो स्वहित। विहिताविहित-दक्ष तो ॥१३८॥ आत्मज्ञानी सदा निर्भय। एकीएक अद्वितीय। दुजेपणाचा पुसिला ठाय। शोकात्यय दृढ फळे ॥१३९॥ आत्मा जरी दुर्विज्ञेय। नातुडे प्रवचनश्रवणें ठाय। केवळ मेधा करील काय। तरीही सुविज्ञेय उपायें ॥१४०॥ जो स्वयें सर्वत्र निष्काम। आत्मज्ञानैकमात्रकाम। ऐसा जो आत्म्या प्रार्थी प्रकाराम। तयासचि परम लाभ हा ॥१४१॥ श्रवणादिकार्लो "तोच मी आहे"। ऐसिया अभेददृष्टीं जो पाहे। हेंच अनुसंधान जयाचें राहे। आत्मा अनुग्रहें वरी त्या ॥१४२॥ सदा दुश्चरितासक्त। अशान्त आणि असमाहित। नाहीं जयाचें एकाग्र चित्त। तया हा अप्राप्त ज्ञानिया ॥१४३॥ श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित। करी जो विहित, त्यागी अविहित। जयाचें नित्य समाहित चित्त। आत्मा अंकित तयाचा ॥१४४॥ दुश्चरितापासाव जो विरत। आचार्यगुरुपदीं जो विनत। फलाची इच्छा जयाची निवृत्त। तयासीच प्राप्त हा आत्मा ॥१४५॥ न होतां विषयीं निष्काम। न होतां केवळ आत्मकाम। न होतां सकळवृत्तिविराम। आत्माराम दुर्गम ॥१४६॥ पाहूनि जिज्ञासूच्या तपा। स्वयें आत्म्यास उपजेल कृपा। तेंच प्रकटी निजस्वरूपा।

गुरुवीण सोपा नव्हेच।।१४७।। तरी स्वरूपप्राप्त्यर्थ साधकें। करावीं श्रवणमननादिकें। अभेदभावानुसंधान निकें। तरीच सुखें
आत्मलाभ।।१४८।। प्रपंच हा अज्ञानमय सारा। अज्ञानमूलक तयाचा पसारा। ज्ञानावीण मोक्षास थारा। नाही जरा हें
समजा।।१४९।। अनुमान आणि युक्तिप्रभव। हा तो शास्त्राचा अनुभव। प्रपंचनाशींच ज्ञानोद्भव। असंभव अन्यथा।।१५०।। महात्मा
हो कां पापात्मा। जीवात्मा तोच परमात्मा। हें जाणूनि वर्तेल तो महात्मा। अभेदात्मा तो एक।।१५१।। ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान। हेंच
ज्ञानाचें पर्यवसान। झालिया एकदां आत्मज्ञान। समस्त अज्ञान मावळे।।१५२।। आत्मज्ञान होतां पुरें। अवगंतव्य मग कांहीं नुरे।
करतलगत वस्तुजात सारें। साक्षात्कारें तयासीं।।१५३।। आत्मविज्ञानाचें फळ। संसारनिवृत्ति अविकळ। परमानंदप्राप्ति तात्काळ।
तया सुकाळ मोक्षाचा।।१५४।। आत्मा सूक्ष्माहून सूक्ष्मतर। महताहूनि महत्तर। हा तों सर्वव्यापकताप्रकार। बुद्धिगोचर
करावया।।१५५।। तो स्वयें सूक्ष्म ना महत्। तरतमभाव तेथें कल्पित। तो तों आब्रह्मस्तंबपर्यंत। परिपूरित चराचरीं।।१५६।। तें हें
अनिर्वचनीय सत्। बुद्धीत व्हावया संकलित। वाचेनें करिती मर्यादित। अमर्यादित जें स्वयें।।१५७।। केवळ बुद्धिवैभवाचे योगें। खरें
वर्म हातीं न लागे। साधु सद्गुरु संतसंगें। सेवानुरागें तत्प्राप्तीं।।१५८।। ब्रह्मनिरूपण काय थोडें। पोथ्या पुस्तकीं भरलें रोकडें।
परि सद्गुरुकृपा जों न घडे। हातीं न चढे कल्पांतीं।।१५९।। नित्य नैमित्तिक कर्माभावीं। शुद्धसंस्कारयुक्त जो मन नाही। तोंवरी
ब्रह्मानुभव पाहीं। मुळींच कांहीं नागवे।।१६०।। ब्रह्म केवळ नित्य। तदव्यतिरिक्त सर्व अनित्य। दृश्यजाता नाही सातत्य। सत्य
सत्य त्रिवाचा।।१६१।। ब्रह्माचा वक्ताही दुर्मिळ। तैसाच दुर्लभ श्रोताही निर्मळ। वरी प्रेमळ आणि अनुभवशील। सद्गुरु विरळ
लाधाया।।१६२।। ब्रह्म काय वाटेवर पडलें। गिरिकंदरीं जे जे दडले। यमनियमीं जे अडकले। गढले ध्यानधारणीं।।१६३।।
त्यांनाही न होतां गुरुकृपा। येईना जें ब्रह्म रूपा। तें तुजसम या लोभस्वरूपा। आतळे बापा कैसेनि।।१६४।। जयास उदंड
द्रव्यासक्ति। तयास ब्रह्मज्ञानप्राप्ती। न घडे कधींही कल्पांतीं। गांठ निश्चिती बांधावी।।१६५।। करितां परमार्थश्रवण। करी विषयांचें
चित्तन। आणि प्रपंचाचें निदिध्यासन। मग साक्षात्करणही तैसेंच।।१६६।। मल-विक्षेप आणि आवरण। ऐसें त्रिदोषी अंतःकरण।
निष्काम कर्म मल-निर्मूलन। विक्षेप-क्षालन उपासना।।१६७।। स्वकर्म आणि उपासना करितां। परिपक्वता येते कर्त्याचे चित्ता।
मल-विक्षेप निर्मूल होतां। आवरण-शेषता राहते।।१६८।। तें हें सर्वानर्थबीज आवरण। नासूनि जातें प्रकटतां ज्ञान। होतां रवि
प्रकाशमान। जेवीं निरसन तिमिराचें।।१६९।। सत्यज्ञानानंतादि लक्षणीं। वर्णिलें जें वेदांतविचक्षणीं। तें ब्रह्म ज्याचा तोच जर्नीं।
होतां ज्ञानी विलसतें।।१७०।। थोडा अंधार थोडें चांदणें। एकला पांथस्थ रानीं चालणें। बिचकला स्थाणू तस्करभेणें। लपला तेणें
तेथेंच।।१७१।। एकला मी जवळी पैसा। तो तर टपला वाटपाड्या जैसा। आतां करावा विचार कैसा। न ये भरंवसा
जीवाचा।।१७२।। तोंच दुरुनि दीप येतां। प्रकटतां स्थाणूची यथात्मता। विरली तयाची भीतिग्रस्तता। कळली ती आभासता
चोराची'।।१७३।। असो आतां या प्राप्तासी। निवेदिले व्यत्यय श्रोतयांसी। पुढील अध्ययीं श्रेयार्थियासी। श्रेय प्रकाशील
निजरूप।।१७४।। हेमाड साईपदीं लोळे। वाचेस येईल तैसें बरळे। साईकृपा जें जें चावळे। परिसोत भोळे भाविक तें।।१७५।।
स्वस्ति श्रीसंतसज्जनप्रेरिते। भक्तहेमाडपंतविरचिते। श्रीसाईसमर्थसच्चरिते। ब्रह्मज्ञानकथनं नाम षोडशोऽध्यायः संपूर्णः।।

॥श्रीसद्गुरुसाईनाथार्पणमस्तु॥ शुभं भवतु॥

=====